4

लाईं जो बदलाव

मानव सभ्यता के शुरुआती दौर से ही विकास के विभिन्न क्षेत्रों में महिलाओं की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। शिक्षा हो या राजनीति, स्वतंत्रता की लड़ाई हो या कुरीतियों के विरूद्ध संघर्ष इन सभी क्षेत्रों में भारतीय महिलाएँ महत्वपूर्ण भूमिका निभाती आई हैं। यहाँ चार ऐसी ही भारतीय महिलाओं के जीवन का संक्षिप्त विवरण है, जो तमाम विरोधों का सामना करते हुए भी निरंतर विकास के लिए संघर्ष और सकारात्मक बदलाव के लिए प्रयासरत रहीं। विकास की वर्तमान अवस्था पर इनके योगदान की झलक आज भी दिखाई देती है।

मैडम भीकाजी कामा (1861–1936)

मैडम कामा का जन्म 24 सितंबर 1861 को एक समृद्ध पारसी परिवार में हुआ था। उनके पिता सोरबजी फ्रेमजी पटेल प्रसिद्ध व्यापारी थे और उनकी माता जीजी बाई एक अमीर प्रभावशाली घराने से थीं। भीकाजी ने अपनी शिक्षा एलिक्जैंड्रिया गर्ल्स स्कूल से अँग्रेज़ी परिवेश में (ऐसा परिवेश जो ब्रितानी तौर-तरीकों और जीवन-शैली से प्रभावित था) ग्रहण की थी। वे बचपन से ही विद्रोही और राष्ट्रवादी थीं। उनमें भाषाएँ सीखने की जन्मजात प्रवृत्ति थी और विभिन्न हल्कों और विभिन्न लोगों के बीच वे अपने देश की स्थिति के विषय में तर्क करने में दक्ष थीं।

---

* परिषद् द्वारा कस्तूरबा गांधी बालिका विद्यालय के लिए विकसित *ब्रिज कोर्स* (उच्च प्राथमिक स्तर-इतिहास) से साभार

उनके राष्ट्रवादी विचार, गतिविधियाँ और विद्रोही व्यवहार उनके माता-पिता के लिए चिंता और परेशानी के कारण थे। उनका ध्यान बँटाने और उन्हें राजनीतिक सक्रियता से दूर रखने के लिए उनके माता-पिता ने 1885 में उनका विवाह रुस्तम के.आर. कामा से कर दिया, जो अमीर और प्रभावशाली पारसी थे। वैचारिक दृष्टि से मैडम कामा और उनके पति एक दूसरे से पूर्णत: भिन्न थे। श्री कामा अँग्रेज़ों को बहुत पसंद करते थे, उनकी संस्कृति से प्रेम करते थे और सोचते थे कि उन्होंने भारत का बहुत भला किया है। मैडम कामा, जो अब पूर्णत: राष्ट्रवादी बन गई थीं, सदैव यह सोचती थीं कि अँग्रेज़ों ने भारत का शोषण किया है। इस प्रकार के वैचारिक मतभेदों के कारण उनका विवाह सफल नहीं रह पाया। मैडम कामा स्वयं को सामाजिक और राजनीतिक क्रियाकलापों में व्यस्त रखने लगीं। अक्तूबर 1896 में बॉम्बे प्रेज़िडेंसी में पहला अकाल पड़ा और उसके एकदम बाद वहाँ प्लेग का प्रकोप फैल गया। मैडम कामा उस स्वयंसेवी दल की अगुआ थीं, जो प्लेग-पीड़ितों की रक्षा का प्रयास कर रहा था। इसके फलस्वरूप वह स्वयं इस घातक रोग से पीड़ित हो गईं। उन्हें चमत्कारिक रूप से बचा तो लिया गया लेकिन रोग ने उनके स्वास्थ्य पर स्थायी रूप से प्रतिकूल प्रभाव डाल दिया।

1902 में उन्हें आराम और स्वास्थ्य-लाभ के लिए लंदन भेजा गया। मैडम कामा ने अपने शेष जीवन का अधिकांश हिस्सा विदेश में बिताया क्योंकि ब्रितानी सरकार ने भारत में उनके प्रवेश पर प्रतिबंध लगा दिया था। उसने भारत में उनकी संपत्ति को भी ज़ब्त कर लिया।

इसके बावजूद इनमें से कोई भी बाधा मैडम कामा को रोक नहीं पाई। उन्होंने इंग्लैंड में एक वयोवृद्ध महापुरुष दादा भाई नौरोजी के मार्गदर्शन में अपना राजनीतिक कार्य शुरू कर दिया। उन्हें 'क्रांति की जननी' (मदर ऑफ रिवोल्यूशन) कहा जाने लगा। उन्होंने घोषणा कर दी 'आगे बढ़ो हम भारत के हैं। भारत भारतीयों का है।' वे भारत और विदेश स्थित क्रांतिकारियों की आर्थिक सहायता करती रहीं। अँग्रेज़ों को उनके कार्यकलाप नहीं भाए और उन्होंने उनकी हत्या की योजना बनाई। स्वयं को अँग्रेज़ों के षडयंत्र से बचाने के लिए, वे समुद्री जहाज़ से फ्रांस चली गईं। वे पेरिस में रहने लगीं, जहाँ उनका घर बाद में विश्व भर के क्रांतिकारियों का आश्रय-स्थल बन गया। कहा जाता है कि रूसी क्रांति के जनक लेनिन भी उनके घर आए थे और उन्होंने उनके साथ विचारों का आदान-प्रदान किया था।

मैडम कामा महिलाओं के हित के लिए भी संघर्ष करती थीं। मिस्र में काहिरा में 1900 में आयोजित राष्ट्रीय सम्मेलन में बोलते समय उन्होंने पूछा, "मिस्र की आधी जनता कहाँ है? मुझे सिर्फ़ पुरुष दिखाई दे रहे हैं, जो देश के आधे भाग का ही प्रतिनिधित्व करते हैं।" उन्होंने किसी भी राष्ट्र के निर्माण में महिलाओं की

भूमिका पर ज़ोर दिया। मैडम कामा ने भारत की स्वतंत्रता के लिए प्रयास जारी रखे। अगस्त 1907 में, स्टुटगार्ट (जर्मनी) में द्वितीय अंतर्राष्ट्रीय समाजवादी सम्मेलन हुआ। इसमें विभिन्न देशों के एक हज़ार से अधिक प्रतिनिधियों ने भाग लिया। सम्मेलन के अंतिम दिन मैडम कामा ने मंच पर खड़े होकर सभी अंतर्राष्ट्रीय प्रतिनिधियों से सीधे पूछा कि क्या वे भारत की स्वतंत्रता के संग्राम के लिए अपना समर्थन देंगे। यह पहली बार था जब भारत की स्वतंत्रता का मुद्दा अंतर्राष्ट्रीय मंच पर उठाया गया था। अपनी बात खत्म करते-करते उन्होंने एक लपेटे हुए कपड़े को खोला और पलभर में ही यह झंडे में बदल गया, जिसे उन्होंने अपने दोनों हाथों से ऊपर उठा कर कहा, "यह झंडा भारत की स्वतंत्रता का है। देखो, इसका जन्म हो चुका है। यह उन युवा भारतीयों के रक्त से पवित्र हो गया है, जिन्होंने अपने जीवन को बलिदान कर दिया। मैं आप सभी सज्जनों से अनुरोध करती हूँ कि खड़े होकर भारत की स्वतंत्रता के प्रतीक इस झंडे का अभिनंदन करें। इस झंडे के नाम पर मैं विश्वभर के स्वतंत्रता-प्रेमियों से इस झंडे के लिए पूरा समर्थन देने की अपील करती हूँ।" यह पहली बार था कि किसी विदेशी भूमि पर भारतीय झंडा अंतर्राष्ट्रीय प्रतिनिधियों के बीच प्रदर्शित किया गया था। सन् 1931 में जब वे 70 वर्ष की थीं और गंभीर रूप से रोगग्रस्त थीं, तब उन्हें भारत लौटने की अनुमति मिली। 13 अगस्त, 1936 को मुंबई में उनका निधन हो गया।

सावित्रीबाई फुले (1831–1897)

सावित्रीबाई फुले की जीवनी महाराष्ट्र की एक प्रमुख समाज सुधारक की जीवनी है, जिन्होंने समाज के सबसे अधिक वंचित वर्गों की महिलाओं के उत्थान के लिए काम किया। उनका जन्म 3 जनवरी 1831 को ज़िला सतारा के नाईगाँव नामक गाँव में हुआ। तत्कालीन सामान्य प्रथा के अनुसार उनके पिता ने नौ वर्ष की आयु में ज्योतिबा फुले से उनका विवाह कर दिया। सावित्रीबाई और ज्योतिबा फुले दोनों ही बाद में महाराष्ट्र के प्रमुख समाज सुधारक बन गए। पति और पत्नी के दल ने अपना पूरा जीवन लड़कियों की शिक्षा को बढ़ावा देने और शैशवावस्था से वयस्क होने तक लड़कियों के पूरे जीवन चक्र को कुप्रभावित करने वाली कुछ परंपरागत प्रथाओं को खत्म करने में लगा दिया।

उनके पति ने उन्हें पढ़ाया और बाद में उन्होंने 1841 में नॉर्मल स्कूल में दाखिला ले लिया। उन्होंने नॉर्मल स्कूल से 1846-47 में

तीसरे और चौथे वर्ष की परीक्षाएँ अच्छे अंक लेकर पास कीं। अपनी औपचारिक शिक्षा पूरी करने के बाद उन्होंने और उनके पति ने पुणे में 1848 में बालिकाओं के लिए एक स्कूल खोला और वे उसकी प्रधानाचार्या बन गईं। यह उत्साहजनक बात है कि वह युग जिसमें लड़कियों के माता-पिता और समाज उनकी शिक्षा को महत्वपूर्ण नहीं मानते थे, सावित्रीबाई फुले और उनके पति ने अभिभावकों को अपनी लड़कियों को स्कूल भेजने के लिए प्रोत्साहित किया। शुरुआत में नौ लड़कियों ने स्कूल में अपना नामांकन करवाया था। उनकी सामाजिक पृष्ठभूमि अलग-अलग थी।

वंचित वर्ग की बालिकाओं के लिए उनके उत्कृष्ट शैक्षिक कार्य को समाज द्वारा स्वीकार नहीं किया गया। अक्सर लोग उनका मज़ाक उड़ाते थे, उन पर टिप्पणियाँ करते थे। उन पर अंडे, गोबर, टमाटर और पत्थर फेंकते थे। इससे उनके दृढ़ निश्चय और आत्मविश्वास में कमी नहीं आई। उन्होंने अपना मिशन जारी रखा। उसी वर्ष यानी 1848 में ही उन्होंने अपने पति के सहयोग से लड़कियों के लिए पाँच और स्कूल खोले। उनके कार्य पर अँग्रेज़ सरकार का ध्यान गया और उन्होंने उनका और उनके पति का अभिनंदन किया और उनके काम की सराहना की।

शिक्षा के साथ-साथ उन्होंने और उनके पति ने विधवाओं से संबंधित कुछ कुरीतियों को समाप्त करने का भी प्रयास किया। एक कुरीति विधवाओं का सिर नियमित रूप से मुंडवाने की थी। सावित्रीबाई और ज्योतिबा ने नाइयों की हड़ताल कराई और उन्हें विधवाओं के सिर का मुंडन न करने के लिए राज़ी कर लिया। यह अपने तरीके की पहली हड़ताल थी। उन्होंने महिलाओं के लिए एक 'प्रसूति गृह' भी खोला जिसका नाम 'बालहत्या प्रतिबंधक गृह' रखा गया।

सावित्रीबाई और उनके पति मूर्तिपूजा और सभी प्रकार के कर्मकांडों के विरुद्ध थे। उन्होंने सत्य शोधक समाज की स्थापना की जिसका कार्य समाज के दुर्बल वर्गों का समग्र विकास था। अपने पति की मृत्यु के पश्चात् उन्होंने इस समाज को चलाने का संपूर्ण दायित्व स्वीकार कर लिया। उनके द्वारा किए गए अन्य सामाजिक कार्यों में अछूतों को अपने कुएँ से पानी भरने की अनुमति देना था। उन्होंने उन गरीब बच्चों के लिए शिविरों का आयोजन भी किया जो प्लेग से पीड़ित थे। ऐसा कहा जाता है कि महामारी के दौरान वे दो हज़ार बच्चों को रोज़ भोजन कराती थीं। प्लेग से पीड़ित बच्चों की सेवा के दौरान वे स्वयं प्लेग से पीड़ित हो गईं और 10 मई 1897 को उनका निधन हो गया। वे उत्तम कोटि की लेखिका भी थीं। उनकी दो प्रकाशित कविताएँ हैं, 1934 में प्रकाशित *काव्य 'फुले'* और 1982 में प्रकाशित *'बावन काशी सुबोध' रत्नाकर*।

समाज के दुर्बल वर्गों के उत्थान के लिए किए गए उनके प्रयासों को महाराष्ट्र सरकार ने मान्यता दी। राज्य सरकार ने उनके नाम पर उन महिलाओं को पुरस्कृत करना शुरू किया है, जो सामाजिक सरोकारों के लिए काम कर रही हैं। 10 मार्च 1998 को भारतीय डाक

विभाग द्वारा सावित्रीबाई के योगदानों की सराहना में एक डाक टिकट जारी किया गया है। सरकार द्वारा लड़कियों की शिक्षा को बढ़ावा देने वाली कुछ छात्रवृत्तियाँ भी सरकार ने उनके नाम से शुरू की हैं।

कस्तूरबा गांधी (1869–1944)

कस्तूरबा गांधी, जिनको प्यार से सब 'बा' कहते हैं, का जन्म 11 अप्रैल 1869 को पोरबंदर के एक समृद्ध व्यवसायी गोकुलदास माखरजी के घर हुआ था। तेरह वर्ष की अल्पायु में ही उनका विवाह मोहनदास करमचंद गांधी के साथ हो गया। उन्हें उनके माता-पिता ने शिक्षा नहीं दिलवाई थी। विवाह के बाद उनके पति मोहनदास ने उन्हें पढ़ना-लिखना सिखाया। कस्तूरबा गांधी ने अन्याय के खिलाफ लड़ाई में और सभी प्रकार की सामाजिक कुरीतियों, जैसे छुआछूत आदि के विरुद्ध संघर्ष में अपने पति का साथ दिया।

जब 1893 से 1914 तक गांधीजी दक्षिण अफ्रीका में थे, तो बा ने डर्बन के निकट की फीनिक्स बस्ती को सशक्त करने में अपने पति के कार्यों में सक्रिय योगदान दिया। दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों की कार्य-स्थितियों को सुधारने के काम में सहायता करने के लिए उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया और तीन माह की कैद हो गई।

जब 1915 में गांधीजी भारत आए, तो चंपारन, बिहार के नील की खेती करने वाले श्रमिकों के सरोकारों के लिए आवाज़ उठाने में उन्होंने अपने पति का साथ दिया। जहाँ गांधीजी नील की खेती करने वाले मज़दूरों के लिए आवाज़ उठा रहे थे, वहीं कस्तूरबा गांधी उन किसानों की स्त्रियों, अनेक महिलाओं और बच्चों को स्वच्छता, अनुशासन, पढ़ना-लिखना सिखाती थीं। उन्होंने 1918 में, केरा, गुजरात में 'कर मत दो' अभियान में भी सक्रिय रूप से भाग लिया। इस अभियान में उन्होंने केरा की महिलाओं के सामने बहुत महत्वपूर्ण भाषण दिया, जिसमें उन्होंने उनसे अपने पतियों को समर्थन देने की बात कही और उन्हें अनुचित राजस्व अदा न करने के लिए प्रोत्साहित किया। उनके पति द्वारा शुरू किए गए पहले असहयोग आंदोलन में उनकी भागीदारी देखते ही बनती थी। गांधीजी के साथ वे गाँव-गाँव गईं और वहाँ उन्होंने महिलाओं से सूत कातने, खादी पहनने, सरकारी स्कूलों और कॉलेजों का बहिष्कार करने और छुआछूत को मिटाने की अपील की। उन्हें 1931 में और पुनः 1932 में विदेशी कपड़े और शराब बेचने वाली दुकानों पर धरना देने के लिए गिरफ्तार कर लिया गया। 1935 में उन्हें पुनः स्वतंत्रता संग्राम में भाग लेने के लिए गिरफ्तार कर लिया गया। फिर उन्हें

1942 में अपने पति की गिरफ्तारी का विरोध करने के लिए आयोजित सभा को संबोधित करने के लिए जाते समय गिरफ्तार कर लिया गया। स्वतंत्रता संग्राम में भागीदारी करने के लिए उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

कस्तूरबा गांधी ने अपना पूरा जीवन समाज के सबसे अधिक अभावग्रस्त वर्गों के कल्याण के लिए समर्पित कर दिया। वे चिरकालिक ब्रॉन्काइटिस से पीड़ित हो गई थीं। भारत छोड़ो आंदोलन और गिरफ्तारियों से उनके स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। 22 फरवरी 1944 को गंभीर हृदयाघात से उनका निधन हो गया।

पंडिता रमाबाई सरस्वती (1858–1922)

पंडिता रमाबाई सरस्वती का जन्म 23 अप्रैल 1858 को पश्चिमी घाट के मंगलोर ज़िले के गंगामुल में हुआ था। उनके पिता अनंत शास्त्री बड़े विद्वान ब्राह्मण और महान समाज सुधारक थे। वे महिला शिक्षा के प्रबल समर्थक थे। जैसा कि 19 वीं शताब्दी में आम रिवाज़ था, उनका विवाह नौ वर्ष की बालिका से किया गया था। उन्होंने उसे शिक्षित करने का निर्णय लिया। उन्होंने अपनी पत्नी को संस्कृत और धर्मशास्त्र पढ़ाए। उनकी पत्नी ने बाद में अपने बच्चों को, विशेष रूप से रमाबाई को शिक्षित किया। बहुत अल्प आयु में ही वे संस्कृत में पारंगत हो गईं। बारह वर्ष की आयु में उन्हें पुराणों के 18,000 श्लोक कंठाग्र याद हो गए थे। उन्हें शास्त्रों और भागवत का उत्तम ज्ञान था। धर्मग्रंथों के गहन ज्ञान के कारण कोलकाता के पंडितों ने उन्हें उच्चतम उपाधि यानी 'सरस्वती' की उपाधि प्रदान की।

पंडिता रमाबाई किसी प्रकार के जातिगत भेदभाव में यकीन नहीं करती थीं और उन्होंने एक बंगाली वकील बिपिन बिहारी मेधावी से विवाह किया। वे ब्राह्मसमाज के भी सदस्य थे, जो समाज सुधार करने के प्रति समर्पित था।

बाल विधवाओं की व्यथा से व्यथित होकर पंडिता रमाबाई और उनके पति ने उनके लिए एक स्कूल खोलने का निर्णय लिया। वे बहुत कम आयु में ही अपने पति को खो बैठीं। दो वर्ष बाद ही हैज़े से उनकी मृत्यु हो गई थी और वे अपने पीछे मनोरमा नाम की बेटी भी छोड़ गए। लेकिन पंडिता रमाबाई ने हिम्मत नहीं हारी। वे बाल विधवाओं, विशेष रूप से चितपावन ब्राह्मण समुदाय की बाल विधवाओं के सरोकारों के लिए आवाज़ उठाने को दृढ़संकल्प हो गईं। स्कूल खोलने के लिए उन्हें धन की आवश्यकता थी, जिसके लिए पंडिता रमाबाई सरस्वती ने देश में और देश के बाहर व्यापक रूप से यात्राएँ की। वे अमेरिका गईं और वहाँ उन्होंने विभिन्न सामाजिक और धार्मिक वर्गों के

लोगों को अपनी योजनाएँ बताईं। ये सभी लोग अमीर व्यवसायी थे। यहीं पर 28 मई 1887 को रमाबाई एसोसिएशन नामक छोटे दल का गठन हुआ। इस संस्था ने उन्हें 10 वर्ष तक वित्तीय सहायता देते रहने का वचन दिया।

धन उपलब्ध हो जाने पर उन्होंने मुंबई में एक आवासीय स्कूल खोला जिसका नाम उन्होंने 'शारदा सदन' रखा। यह महाराष्ट्र में विधवाओं के लिए पहला आश्रम था। ऐसा ही एक सदन सिर्फ बंगाल में था, जिसे श्री सेन द्वारा शुरू किया गया था।

सदन का मुख्य उद्देश्य युवा विधवाओं को आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनाना था। अधिकांश विधवाओं को शिक्षिका, गृहरक्षिका, नर्स, दाई आदि के कामों के लिए प्रशिक्षित किया गया था, जिससे वे अपनी जीविका अर्जित कर सकें। सदन की पाठ्यचर्या में बालवाड़ी (किंडरगार्डन) शिक्षा पद्धति पर ज़ोर दिया गया। इसमें संस्कृत, अँग्रेज़ी, गुजराती और मराठी पढ़ाई जाती थी। भूगोल, खगोल विज्ञान, इतिहास, गणित, रसायन विज्ञान, वनस्पति विज्ञान, प्राणि विज्ञान, शरीरक्रिया विज्ञान और स्वास्थ्य विज्ञान आदि विषय भी यहाँ पढ़ाए जाते थे। नैतिक शिक्षा, सदाचार और गृह प्रबंधन पर विशेष बल दिया जाता था।

यही नहीं, सदन ने अपनी छात्राओं को सिलाई, कशीदाकारी, बुनाई, चित्रकला, चीनी मिट्टी के पात्रों पर अलंकरण करना, मिट्टी के खिलौने बनाना, फ़ोटोग्राफी, काष्ठ उत्कीर्णन, बाँस से वस्तुएँ बनाना आदि में भी प्रशिक्षित किया। आनंदीबाई कर्वे इस सदन की पहली विद्यार्थी थीं। आनंदीबाई कर्वे ने अपनी आत्मकथा *माझे पुरान* लिखी, जिसमें बाल-विधवा के जीवन का मार्मिक वर्णन किया गया है। वे कहती थीं कि अगर लड़कियों को स्वतंत्रता और स्वस्थ परिवेश दिया जाए तो उनके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास होता है और वे आत्मनिर्भर बन सकती हैं। सदन के कार्यकलापों को समुदाय का समर्थन प्राप्त था। धीरे-धीरे अविवाहित लड़कियों को भी दाखिला दिया जाने लगा। सदन की शुरुआत 1890 में 18 निवासियों से हुई थी और यह संख्या बढ़कर 64 हो गई थी।

पंडिता रमाबाई द्वारा शुरू की गई एक अन्य संस्था 'मुक्ति सदन' थी। इस सदन में उन लोगों को शरण दी गई थी, जो 1900 में अकाल से पीड़ित हुए थे। उन्होंने एक स्कूल भी खोला, जिसमें 400 बच्चे पढ़ सकते थे।

शिक्षकों के लिए एक प्रशिक्षण स्कूल और एक औद्योगिक स्कूल भी खोला गया, जिसमें बगीचे, तेल की पेराई का यंत्र, डेयरी, लॉन्ड्री और अवन आदि भी थे। यहाँ सिलाई, बुनाई और कशीदाकारी का प्रशिक्षण भी दिया जाता था।

तीसरी संस्था जो उन्होंने शुरू की, वह थी 1882 में मुंबई में स्थापित 'आर्य महिला समाज'। इस समाज का उद्देश्य था महिलाओं के बीच सामाजिक संपर्क और सहयोग को बढ़ावा देकर उनका उत्थान करना। यहाँ साप्ताहिक भाषणों और अनौपचारिक सम्मेलनों का भी आयोजन किया जाता था। योग्य सदस्याओं को छात्रवृत्ति भी दी जाती थी। छात्राओं के लिए एक छात्रावास भी बनाया गया था। आवासीय छात्राओं, महिला

विद्यार्थियों के लिए बैडमिंटन कोर्ट भी बनाया गया था। इसकी सदस्यता सभी के लिए खुली थी, भले ही वे किसी भी जाति और धर्म की हों।

महिला शिक्षा के सरोकारों को अधिक प्रोत्साहन देने के लिए पंडिता रमाबाई 1882 में भारत सरकार द्वारा नियुक्त शिक्षा आयोग के समक्ष उपस्थित हुईं। उनके कुछ सुझाव शिक्षकों के प्रशिक्षण और विद्यालय निरीक्षिकाओं की नियुक्ति के विषय में थे। उन्होंने यह सुझाव भी दिया कि भारतीय महिलाओं को चिकित्सा महाविद्यालयों में दाखिला लेने का अवसर दिया जाना चाहिए। रमाबाई के साक्ष्य ने लोगों का काफी ध्यान आकर्षित किया। चिकित्सा व्यवसाय में महिलाओं की भागीदारी के उनके विचार महारानी विक्टोरिया तक पहुँचे। उनके सुझाव पर अमल करने की दृष्टि से लेडी डफरिन ने महिला चिकित्सा आंदोलन का सूत्रपात किया। पंडिता रमाबाई के कुछ महत्वपूर्ण प्रकाशनों में *'स्त्री धर्मनीति'* और *'हाई कास्ट हिंदू विमेन'* हैं। उन्होंने *'द न्यू टेस्टामेंट'* का सरल मराठी में अनुवाद भी किया।